दैनिक भास्कर

Date: 28-11-24

चीन का विकल्प बनने की हमारी क्या तैयारी है

संपादकीय

एक ताजा पोस्ट में ट्रम्प ने कहा है कि आगामी 20 जनवरी को राष्ट्रपति का पदभार ग्रहण करने के बाद पहला कदम होगा कनाडा, मैक्सिको और चीन के माल पर टैक्स बढ़ाना। उधर रूस- यूक्रेन युद्ध और पश्चिमी एशियाई तनाव के बाद व्यापार की दशा और दिशा भू-राजनीतिक और रणनीतिक आधार पर तय होने लगी है। इसी सोच के तहत पश्चिमी दुनिया ने 'चीन प्लस वन' यानी चीन के साथ व्यापार तो करो लेकिन एक और समतुल्य विकल्प भी साथ रखने की नीति बनाई। भारत भी राजनीतिक स्थिरता, नीतिगत मजबूती और सस्ते लेबर के पैमानों पर खरा उतरता है। लेकिन इन सबके बावजूद हम खुद को तैयार नहीं कर पाए हैं। दरअसल भारत के पास जमीन है, सुविधाएं देने की ललक भी है, सस्ता श्रमिक भी है लेकिन जरूरत के स्तर का स्किल नहीं है। सच तो यह है कि लगातार बदलती टेक्नोलॉजी के दौर में स्किल केवल सीखना नहीं होता, स्किल के नए पहलुओं को तत्काल अपनी पकड़ में करना होता है। क्या हमारी तकनीकी शिक्षा संस्थाएं अपने शोध को वैश्विक स्तर पर स्वीकार्य गुणवत्ता का बना पाई हैं? मौलिक शोध के लिए पैसा और वातावरण चाहिए जो भारत में फिलहाल नहीं है। अभी भी मौका है कि हम उत्पादन हब के रूप में चीन को पछाड़ सकें बशर्ते पूरी ताकत स्किलिंग और शोध में झोंक सकें।

दैनिक जागरण

Date: 28-11-24

चिंतित करता बांग्लादेश

संपादकीय

यह अच्छा हुआ कि भारत ने पिछले दिनों ढाका में गिरफ्तार किए गए हिंदू समुदाय के नेता और इस्कान के प्रवक्ता चिन्मय कृष्ण दास की एक मनगढ़ंत आरोप में गिरफ्तारी पर बांग्लादेश के समक्ष अपनी आपत्ति और चिंता व्यक्त की, लेकिन इसमें संदेह है कि इतने मात्र से उसकी सेहत पर कोई असर पड़ेगा। इसके आसार इसलिए नहीं, क्योंकि भारत की चिंता के जवाब में बांग्लादेश ने चिन्मय कृष्ण दास की गिरफ्तारी को अपना आंतरिक मामला बता दिया। बांग्लादेश को इसकी इजाजत नहीं दी जानी चाहिए कि वह हिंदुओं के उत्पीड़न से आंखें मूंदे रहे और यदि उसके रवैये पर सवाल उठें तो वह उसे अपना आंतरिक मामला बता दे।अल्पसंख्यकों का सिलसिलेवार उत्पीड़न किसी देश का आंतरिक मामला नहीं हो सकता। यह किसी से छिपा नहीं कि बांग्लादेश में शेख हसीना सरकार के तख्तापलट के बाद से किस तरह हिंदू और अन्य अल्पसंख्यक कट्टरपंथियों के निशाने पर हैं। उन्हें केवल आतंकित ही नहीं किया जा रहा है, बल्कि उनके धार्मिक

स्थलों, व्यावसायिक ठिकानों पर इस इरादे से हमले किए जा रहे हैं कि वे अपना घर-बार छोड़कर भाग जाएं। इससे भी गंभीर बात यह है कि हिंदुओं और अन्य अल्पसंख्यकों को निशाना बनाने वालों पर कहीं कोई कार्रवाई नहीं हो रही है। उलटे उन कट्टरपंथियों और जिहादी तत्वों को पोषित किया जा रहा है, जो हिंदुओं को आतंकित कर रहे हैं।

यह एक तथ्य है कि नोबेल पुरस्कार विजेता मोहम्मद यूनुस के नेतृत्व वाली अंतरिम सरकार ने तमाम कट्टरपंथियों और यहां तक कि जिहादियों को भी जेल से रिहा किया है। उन्होंने ऐसे कई अतिवादी संगठनों को भी राहत दी है, जिन पर शेख हसीना सरकार ने प्रतिबंध लगा रखा था। सबसे खतरनाक बात यह है कि अंतरिम सरकार के मुख्य सलाहकार कहे जाने वाले मोहम्मद यूनुस हिंदुओं पर अनगिनत हमलों को बांग्लादेश के खिलाफ आधारहीन दुष्प्रचार करार दे रहे हैं। यह तब है, जब कई देशों के नेता हिंदुओं पर हमले को लेकर चिंता व्यक्त कर चुके हैं। इनमें डोनाल्ड ट्रंप भी हैं। मोहम्मद यूनुस न तो जल्द चुनाव कराने में कोई दिलचस्पी दिखा रहे हैं और न यह स्पष्ट कर पा रहे हैं कि वह किसकी सरकार के मुख्य सलाहकार हैं? यह मानने के अच्छे-भले कारण हैं कि बांग्लादेशी सेना उनका इस्तेमाल अपने मुखौटे की तरह कर रही है और वह भी उसकी कठपुतली बनने को तैयार हैं। बांग्लादेश अपने बचे-खुचे सेक्युलर स्वरूप को नकार कर जिस तरह पाकिस्तान की तरह कट्टर इस्लामी देश बनता जा रहा है, वह भारत के लिए गंभीर चिंता का विषय बनना चाहिए। वहां इस्लामी कट्टरता बढ़ने का मतलब है हिंदुओं के उत्पीड़न का सिलसिला तेज होना और उनके पलायन की नौबत आना। सच तो यह है कि तमाम बांग्लादेशी हिंदू भारत आने को तैयार हैं। ऐसा इसीलिए है, क्योंकि वहां के हालात उनके प्रतिकूल होते जा रहे हैं। ऐसे में भारत को बांग्लादेश पर दबाव बनाने के लिए सक्रिय होना चाहिए।

Date: 28-11-24

लोकतंत्र को मुंह चिढ़ाता वक्फ कानून,

आदित्य सिन्हा, (लेखक वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

हालिया चुनावी विजय के बाद अपने संबोधन में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने वक्फ कानून को जिस प्रकार आड़े हाथों लिया, उसने लंबे समय से चली आ रही बहस को एक नई हवा दी है। किसी भी आधुनिक पंथनिरपेक्ष लोकतंत्र में ऐसे कानून की उपस्थिति खटकती है। प्रधानमंत्री ने संवैधानिक मूल्यों की कसौटी के साथ ही इसकी वैधानिकता एवं प्रासंगिकता पर भी सवाल उठाए। वक्फ कानून मनमानी शक्तियां प्रदान करता है। कई बार संपत्ति का अधिकार और विधिसम्मत प्रक्रियाएं भी इस कानून की बलि चढ़ जाती हैं। इस कानून को लेकर राजनीतिक तुष्टीकरण के चलते विधि के शासन और निष्पक्षता का पहलू गौण हो जाता है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। तमिलनाडु स्थित तिरुचेंदुरई के किसान राजगोपाल ने जब अपनी जमीन बेचनी चाही तो उन्हें पता चला कि वह तो वक्फ की संपत्ति है। उसके बाद वह तंत्र की जटिलता के चक्कर में फंसकर रह गए। ऐसे अंतहीन उदाहरण हैं जब इस कानून की वजह से लोगों को पुश्तैनी संपत्ति गंवानी पड़ी। इसके कारण अपनी पहचान और आजीविका के साधन गंवाने वालों की मुश्किलों की बस कल्पना ही की जा सकती है।

असल में वक्फ कानून वक्फ बोर्डों को असीम अधिकार प्रदान करता है कि वे बिना औपचारिक प्रक्रिया के ही किसी भी जमीन या संपत्ति पर अपना दावा कर सकें। लोकतांत्रिक समाज में ऐसे स्वेच्छाचारी कानून की कोई जगह नहीं हो सकती और उसे निश्चित ही निरस्त कर देना चाहिए। वक्फ अधिनियम धार्मिक या धर्मादा उद्देश्यों के लिए अपरिवर्तनीय रूप से समर्पित संपत्तियों को नियंत्रित करता है। यह कानून संपत्तियों को हमेशा के लिए वक्फ बोर्डों के नियंत्रण में करने का प्रविधान करता है। वक्फ बोर्ड उचित कानूनी प्रक्रिया के बिना ही सरकारी या निजी किसी भी प्रकार की संपत्ति को अपना बताने लगते हैं। उन्होंने अपना समानांतर न्यायिक ढांचा तक बना लिया है, जहां अर्जी लगाने से लेकर पैरवी और फैसला सुनाने वाले सभी उनके लोग होते हैं। वक्फ के बेलगाम दावों के चलते देश भर में मुकदमों का अंबार लगा हुआ है। सूरत में तो नगर निगम के मुख्यालय को ही वक्फ की संपत्ति घोषित कर दिया गया। व्यक्ति, परिवार, कारोबारी समूह से लेकर खुद सरकारी एजेंसियां इस कानून की तपिश झेल रही हैं, जिसे मजहबी तुष्टीकरण की आड़ में निरंकुश स्वतंत्रता प्रदान की हुई है।

वक्फ के पास संपत्तियों का अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि देश में रक्षा मंत्रालय और भारतीय रेलवे के बाद सबसे अधिक संपत्ति उसके पास ही है। इन संपत्तियों के वक्फ असेट्स मैनेजमेंट सिस्टम आफ इंडिया यानी वामसी के जरिये डिजिटकलीकरण के प्रयास में कई विसंगतियां सामने आई हैं। करीब 4.3 लाख वक्फ संपत्तियों के पास आवश्यक दस्तावेज नहीं हैं। करीब 58,000 संपत्तियां अतिक्रमण के रूप में हैं और हजारों संपत्तियां कानूनी विवादों में फंसी हैं। इस मोर्चे पर स्पष्टता का अभाव लंबी चलने वाली मुकदमेबाजी और विलंबित फैसलों का कारण बनता है, जबकि संपत्ति के वास्तविक स्वामी कानूनी लड़ाई में फंसकर असहाय महसूस करते हैं। इन पहलुओं को इतर भी रखें तो सामुदायिक कल्याण के लक्ष्य की पूर्ति में भी वक्फ कानून असफल सिद्ध हुआ है। भारतीय मुस्लिमों की सामाजिक-आर्थिक दशा सुधारने के उद्देश्य से जुड़ी संपत्तियां कुप्रबंधन की शिकार हैं और उनका अपेक्षित उपयोग भी नहीं हो पा रहा है।

सच्चर समिति के अनुसार वर्ष 2005 में वक्फ संपत्तियों से महज 163 करोड़ रुपये की प्राप्ति हो पाई थी, जो केवल 2.7 प्रतिशत प्रतिफल थी। जबकि सक्षम प्रबंधन के जरिये वार्षिक आधार पर 12,000 करोड़ रुपये से अधिक प्राप्त किए जा सकते थे, लेकिन भ्रष्टाचार, राजनीतिक हस्तक्षेप और रणनीतिक नियोजन के अभाव में ये परिसंपत्तियां उलटे बोझ बन गईं। वक्फ संपत्तियों की अक्सर बाजार भाव से कम मूल्य पर बोर्ड के करीबियों में बंदरबांट कर दी जाती है और उनसे प्राप्त राजस्व का भी कुप्रबंधन देखने को मिलता है, जिससे जरूरतमंदों तक उनका लाभ नहीं पहुंच पाता। सशक्तीकरण का माध्यम बनने के बजाय वक्फ संपत्तियां अक्षमता, शोषण एवं उत्पीड़न का प्रतीक बनकर रह गई हैं। संपत्ति का अधिकार लोकतंत्र का एक आधारभूत स्तंभ है और वक्फ अधिनियम इस पर कुठाराघात करता है। किसी भी मजहबी या धर्मादा उद्देश्य के लिए ऐसे वैयक्तिक अधिकार की घोर उपेक्षा जायज नहीं ठहराई जा सकती। यह कानून केवल न्याय और जवाबदेही के सिद्धांतों का ही अवमूल्यन नहीं करता, अपितु कानूनी ढांचे के प्रति भरोसे को भी घटाता है। इसमें संशोधन कोई समाधान नहीं, क्योंकि समस्या इसकी बुनियाद में निहित है।डिजिटलीकरण और जीआइएस मैपिंग जैसी पहल से पारदर्शिता बढ़ाने के प्रयास किए गए, लेकिन ये केवल लक्षणों का उपचार कर सकते हैं, किंतु बीमारी की जड़ तक नहीं पहुंच सकते। समाधान के लिए स्थापित न्यायाधिकरण अक्षम और आवश्यक न्यायिक स्वतंत्रता से वंचित है। परिणामस्वरूप अपीलों और देरी का अंतहीन सिलसिला चलता है। ऐसे में, इस कानून को समाप्त करना ही एकमात्र उपाय है। इससे संपत्ति के अधिकार की बहाली होगी। नागरिक और संस्थान सुनिश्चित होंगे कि वे अपनी संपत्ति पर मनमाने दावों के शिकार नहीं होंगे। इसके साथ ही वक्फ संपत्तियों में भ्रष्टाचार और कुशासन की बीमारी पर अंकुश

लगेगा। सार्वजनिक-निजी भागीदारी से इन संपत्तियों की संभावनाओं को पूरी तरह भुनाया जाना संभव हो सकेगा, जिसका लाभ जरूरतमंदों को मिलेगा। इससे सामाजिक-आर्थिक विकास का लक्ष्य भी साधा जा सकेगा।

मनमाने वक्फ कानून की समाप्ति से एक समानांतर कानूनी ढांचे पर विराम लगेगा और जमीनों से जुड़े सभी विवाद एक सार्वभौमिक संपत्ति कानून के दायरे में आएंगे। वक्फ अधिनियम वास्तव में पुरातन काल का अवशेष है, जो आधुनिक गवर्नेंस और लोकतंत्र के सिद्धांतों से कतई मेल नहीं खाता। यह न केवल संपत्ति के अधिकारों का घोर उल्लंघन करता है, बल्कि उस समुदाय के हितों को ही पोषित नहीं कर रहा, जिसके हितों के लिए वह काम करने का दावा करता है। इसीलिए, वक्फ अधिनियम को समाप्त करना केवल कानूनी रूप से ही आवश्यक नहीं, बल्कि नैतिकता, न्याय, पारदर्शिता और संसाधनों के प्रभावी उपयोग के दृष्टिकोण से भी अपरिहार्य हो चला है।

Date: 28-11-24

बातों तक सीमित जलवायु सम्मेलन

अनिल प्रकाश जोशी, (लेखक पर्यावरणविद् हैं)

अजरबैजान के बाकू में आयोजित संयुक्त राष्ट्र जलवायु सम्मेलन-कॉप (कांफ्रेंस आफ पार्टीज)-29 जलवायु परिवर्तन की समस्या से निपटने के लिए कोई ठोस निर्णय लिए बिना ही संपन्न हो गया। विकसित देशों ने जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए विकासशील देशों को पर्याप्त वित्तीय सहायता देने से इनकार कर दिया।गरीब देश अमीर देशों से लंबे समय से जलवायु वित्त के रूप में 500 अरब डॉलर की सहायता की मांग कर रहे हैं, ताकि जलवायु परिवर्तन की रोकथाम के लिए किए जाने वाले उपायों से आर्थिक क्षति की भरपाई कर सकें, लेकिन इस बार भी उनकी यह मांग पूरी नहीं हो सकी। अमीर देशों की ओर से कॉप-29 में गरीब देशों के लिए 300 अरब डॉलर के नए जलवायु फंडिंग पैकेज की पेशकश की गई, लेकिन भारत जैसे देशों ने उसे यह कहते हुए खारिज कर दिया कि यह बहुत कम है।

कॉप 29 सम्मेलन की समाप्ति के बाद यह सवाल पूछा जा रहा है कि क्या इस सम्मेलन से कोई ठोस निर्णय निकल पाया? देखा जाए तो पिछले 28 कॉप सम्मेलनों की तरह इस बार भी वही पुराने मुद्दे चर्चा में रहे, जिनका समाधान हर बार पीछे छूट जाता है। ऐसे में यह विचारणीय है कि आज तक इन सम्मेलनों में ऐसा क्या ठोस हुआ है, जिससे जलवायु परिवर्तन की चुनौतियों से प्रभावी रूप से निपटने में मदद मिली हो या आगे मिलने की संभावना जगी हो?1996 में शुरू हुए जलवायु सम्मेलनों में हम केवल वादे और चर्चाओं का दौर ही देखते आ रहे हैं। पेरिस समझौते के तहत कार्बन क्रेडिट प्रणाली और विकसित देशों द्वारा वित्तीय सहायता दिए जाने की जो बात हुई थी, वह अब तक कागजों पर ही सीमित है। वास्तव में 2016 से 2024 तक कार्बन डाईआक्साइड उत्सर्जन और तापमान वृद्धि जैसे बुनियादी मुद्दों पर कोई नियंत्रण नहीं हो सका है। अगर जलवायु सूचकांक देखें तो अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा जैसे विकसित देश इसमें सबसे पीछे हैं।ये देश जलवायु परिवर्तन पर गंभीर चर्चा तो करते हैं, लेकिन ठोस क्रियान्वयन में विफल रहते हैं। इनसे इतर भारत अपने स्तर पर प्रयास कर रहा है। सौर ऊर्जा और अन्य वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों की दिशा में भारत की भूमिका सराहनीय है, लेकिन जलवायु परिवर्तन जैसे वैश्विक मुद्दे किसी देश की सीमाओं तक सीमित नहीं। उदाहरणस्वरूप यदि पाकिस्तान में

प्रदूषण का स्तर बढ़ता है, तो इसका असर भारत पर भी पड़ता है। भूमिगत जल, वायुमंडलीय हवाएं और हिमखंड-ये किसी एक देश की समस्या नहीं हैं, बल्कि पूरे विश्व का साझा संकट हैं।

कॉप सम्मेलन का उद्देश्य विकसित और विकासशील देशों के बीच एक सेतु बनाना था, लेकिन यह मंच केवल वाद-विवाद और एक-दूसरे पर दोषारोपण तक तक सिमट गया है। अब तक न तो जलवायु वित्तीय सहायता की दिशा में कुछ सुधार हुआ है और न ही कार्बन उत्सर्जन को नियंत्रित करने के लिए कोई ठोस कदम उठाए गए हैं। इसे देखते हुए पनामा के मुख्य वार्ताकार कालोस गोमेज को कहना पड़ा कि हमारे जैसे गरीब देश हर मिनट कमजोर होते जा रहे हैं, लेकिन अमीर देश इस ओर संवेदनशीलता नहीं दिखा रहे।छोटे देशों के गठबंधन ने तो एक तरह से कॉप 29 सम्मेलन से वाकआउट ही कर दिया। अब जब कॉप-29 सम्मेलन किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सका, तब फिर सभी देशों को अपने-अपने स्तर पर कुछ करने की आवश्यकता है। आखिर जब इन सम्मेलनों से कुछ ठोस निकल ही नहीं रहा है तो फिर सदस्य देशों को अपने स्तर पर प्रकृति के संहार से बचाने के लिए सक्रिय होने के अलावा और कोई उपाय नहीं।भारत को चाहिए कि वह इन अंतरराष्ट्रीय बैठकों में अपनी बात रखने के साथ-साथ घरेलू स्तर पर भी ठोस कदम उठाए। यदि हम अपने प्रदूषण स्तर और स्थानीय पर्यावरणीय समस्याओं को नियंत्रित करने में सफल होते हैं, तो यह न केवल हमारी आंतरिक स्थिति को बेहतर बनाएगा, बल्कि वैश्विक मंच पर भी हमें मजबूत करेगा।समय आ गया है कि स्थानीय स्तर पर मजबूत रणनीतियां बनाई जाएं। भारत को अपनी ऊर्जा खपत, कार्बन उत्सर्जन और प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन में सुधार करना चाहिए। यदि हम अपनी समस्याओं का समाधान कर पाते हैं, तो हम दुनिया को यह दिखा सकेंगे कि किस तरह सीमित संसाधनों के साथ भी जलवायु संकट का समाधान संभव है।

अब इस पर भी विचार किया जाना चाहिए कि क्या जलवायु सम्मेलन का मंच वाकई समस्याओं के समाधान का माध्यम है या केवल औपचारिकता भर है? कॉप सम्मेलनों की असफलता को देखते हुए इसके मौजूदा स्वरूप में बदलाव पर विचार किया जाना चाहिए, क्योंकि जलवायु संकट की गंभीरता को अब अनदेखा नहीं किया जा सकता।जब विकासशील देश अपने स्तर पर पर्यावरण की रक्षा के लिए सक्रिय होंगे तो विकसित देशों पर कुछ करने का दबाव पड़ेगा और वे अपनी जिम्मेदारी निभाने के लिए आगे आने को बाध्य हो सकते हैं। चूंकि यह सबकी जिम्मेदारी है कि आने वाली पीढ़ियों को एक सुरक्षित और स्वस्थ पर्यावरण मिले, इसलिए पर्यावरण रक्षा के उपाय करने में देर नहीं की जानी चाहिए। पर्यावरण लगातार बिगड़ता ही जा रहा है। यदि दुनिया की चिंता छोड़ सब देश अपनी-अपनी जान बचाने के रास्ते ढूंढ़ें तो कुछ नहीं से कुछ तो हासिल किया ही जा सकता है।भारत अपने स्तर पर काफी कुछ करने में पूरी तरह सक्षम है। भारत को इकोनमी के साथ इकोलाजी के प्रति भी गंभीरता का परिचय देना होगा। यह समय की मांग है कि सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के साथ-साथ सकल पारिस्थितिकी तंत्र उत्पाद (जीईपी) को भी बराबर महत्व मिले। जीडीपी जहां देश की अर्थव्यवस्था की सेहत बताती है वहीं जीईपी देश के पर्यावरण की सेहत बताती है।

जनसत्ता

Date: 28-11-24

मुकदमों का बोझ और न्याय की गति

सोनम लववंशी

भारत की न्यायिक व्यवस्था में मुकदमों का लंबे समय तक चलना गंभीर समस्या है। वर्षों तक लंबित पड़े मामलों ने न्याय के वास्तविक अर्थ को धुंधला कर दिया है। न्याय में देरी अन्याय के समान ही होती है, लेकिन परिपाटी ऐसी बन गई है कि इंसाफ की उम्मीद में कई बार पीड़ित की पूरी जिंदगी निकल जाती है। फिर भी उन्हें न्याय नहीं मिलता। एक सभ्य समाज में न्यायिक व्यवस्था होना और उसका बेहतर तरीके से कार्यान्वित होना बेहद महत्त्वपूर्ण होता है। इसके बावजूद जब इंसाफ समय पर न मिले, तो अनगिनत सवाल खड़े होते हैं। पीड़ित और अभियुक्त दोनों ही इस धीमी प्रक्रिया से त्रस्त हो जाते हैं और न्याय केवल एक प्रतीक्षा बन कर रह जाता है। इसी बीच बीते दिनों अलीगढ़ से एक ऐसी खबर आई, जो न्याय की आस लगाए वा न्यायिक प्रक्रिया पर भरोसा कर अपना समय, धन खर्च करने वालों को कहीं न कहीं एक संजीवनी देने का काम कर रही है। वह घटना हमें यह बताती है कि सब कुछ ठीक ढंग से किया जाए, तो समय पर न्याय मिल सकता है।

दरअसल, पिछले दिनों अलीगढ़ की पाक्सो अदालत ने उनतीस दिनों के भीतर एक मामले का निपटारा कर दिया वह एक स्वागतयोग्य कदम हैं और यह निर्णय न्यायिक प्रक्रिया को द्रुतगति देने की दिशा में एक संदेशवाहक बन सकता है। अलीगढ़ में किशोरी के साथ हुए बलात्कार के दोषी को बीस वर्ष की कैद और पंचास हजार रुपए के जुर्माने की सजा सुनाई गई है। वह घटना न केवल पीड़ित को त्वरित न्याय दिलाने का प्रमाण है, बल्कि उन तमाम मामलों के लिए भी एक नजीर है जो अनावश्यक देरी के कारण वर्षों तक लंबित रहते हैं।

यहां सवाल उठता है कि आखिर ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि हर मामले को इसी तरह जल्द निपटाया जाए! क्या पुलिस और अभियोजन की तत्परता वास्तव में न्यायिक प्रक्रिया को तेज कर सकती है? या यह महज एक अपवाद है, जिसे सामान्य नहीं माना जाना चाहिए ? शायद यह मामला इसलिए भी चर्चा में है, क्योंकि इसका फैसला भारतीय न्याय प्रणाली की नई व्यवस्था लागू होने के बाद पहली बार आया है। ऐसे में यह त्वरित न्याय का प्रतीक है या फिर इसे महज एक संयोग मान कर दरकिनार कर दिया जाए? सच तो यह है कि हमारे देश में पुलिस, अभियोजन और न्यायिक प्रक्रिया के बीच सामंजस्य की कमी न्याय में देरी की मुख्य वजह रही है जिस प्रकार अलीगढ़ के इस मामले में पुलिस ने साक्ष्यों को तुरंत एकत्रित किया, अभियोजन ने मामले को गंभीरता से पेश किया और अदालत ने तत्परता से मामले की सुनवाई की, पैसा सभी मामलों में नहीं हो पाता सामान्यतः पुलिस जांच के लिए समय नहीं निकालती है, अभियोजन तर्कों को ठीक से प्रस्तुत नहीं कर पाता और अदालतों के सामने मुकदमों का अंबार लग जाता है। ऐसे में जल्दी निपटारा असंभव हो जाता है।

सवाल यह भी है कि क्या यह घटना वाकई मील का पत्थर है! क्या यह उदाहरण वास्तव में न्यायिक सुधारों की दिशा में बड़ा कदम है या फिर इसे सिर्फ एक अपवाद मान कर हम आगे बढ़ जाएंगे? अगर कानूनी संस्थाएं इस उदाहरण से कुछ सीखने का प्रयास करें, तो शायद हम मुकदमों के बोझ को कम कर सकते हैं। 'नेशनल जुडिशियल डेटा ग्रिड की रफ्ट के अनुसार, भारत में इस समय लगभग पाँच करोड़ मामले अदालतों में लंबित हैं। इनमें से सत्तर फीसद से अधिक मामले निचली अदालतों में हैं, जबकि उच्च न्यायालयों में भी लाखों मामले लंबित हैं। स्पष्ट है कि न्याय प्रणाली अपने ही बोझ तले दबी है। यह इस बात का भी सबूत है कि देश की कानून व्यवस्था अपने ही भार तले दबे जा रही है क्या अदालतों में न्यायाधीशों की कमी इस समस्या की जड़ है? यह तो साफ है कि जब तक न्यायाधीशों के रिक्त पदों को भरा नहीं जाता, तब तक मामलों का निपटारा तेजी से नहीं हो पाएगा। लिहाजा पुलिस और अभियोजन को उतनी ही तेजी से काम करना होगा वरना, जैसा कि अकसर होता है, साक्ष्य अधूरे रह जाते हैं, गवाह पलट जाते हैं और अपराधी खुलेआम घूमते रहते हैं।

भारत में इंसाफ में देरी के कई प्रमुख कारण हैं। आज भी अदालतों में न्यायाधीशों की संख्या बहुत कम है। विधि आयोग की रपट के अनुसार, भारत में प्रति दस लाख की जनसंख्या पर केवल इक्कीस न्यायाधीश हैं जबकि अमेरिका में यह संख्या एक सौ सात और ब्रिटेन में पचास है। इस कमी के कारण अदालतों पर भारी बोझ पड़ता है और मामलों को निपटाने में सालों लग जाते हैं। यहां तक कि पुलिस और अभियोजन पक्ष की कार्यशैली भी बहुत लचर है। कई बार देखा गया है कि अपराध की जांच में देरी, साक्ष्य इकट्ठा करने में लापरवाही और गवाहों की सुरक्षा का अभाव आदि के कारण पीड़ित पक्ष को समय से न्याय नहीं मिल पाता है। कई मामलों में देखा गया है कि गवाहों को भी कभी लालच देकर या फिर डरा-धमका कर अपने बयानों से पलटने के लिए मजबूर कर दिया जाता है।

भारतीय न्यायालय में डिजिटलीकरण की गति बहुत ही धीमी है। जबकि त्वरित न्याय के लिए डिजिटलीकरण एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है साथ ही ई-फाइलिंग, आनलाइन सुनवाई और मामलों के प्राथमिकता-आधारित निपटारे जैसे उपायों को भी अपनाया जाना चाहिए। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस यानी कृत्रिम मेधा और 'मशीन लर्निंग' जैसी तकनीकों का उपयोग कर लंबित मामलों की पहचान और प्रबंधन को प्राथमिकता दी जाए। सरकार को न्यायिक प्रणाली के लिए पर्याप्त बजट आवंटन, नई अदालतों की स्थापना और कानूनी ढांचे में सुधार जैसे कदम उठाने होंगे। इतना ही नहीं जनता में कानून के प्रति जागरूकता बढ़ानी होगी। न्याय केवल कानून का पालन करने की प्रक्रिया नहीं है, यह समाज में विश्वास बहाल करने का माध्यम भी है।

अलीगढ़ मामले में जिस प्रकार अभियुक्त को त्वरित सजा दी गई, वह यह भी दर्शाता है कि न्याय होता हुआ दिखना चाहिए। अगर अपराधी वर्षों तक बिना सजा के खुले घूमते हैं, तो समाज का कानून व्यवस्था पर विश्वास कमजोर हो जाता है। यह केवल एक अदालत का काम नहीं है, बल्कि पूरी व्यवस्था का दायित्व है कि अपराधी को जल्द से जल्द दड़ित किया जाए। तभी कानून व्यवस्था का असली उद्देश्य पूरा हो सकता है। लचित मुकदमों के बढ़ते भार का हल केवल अदालतों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता। यह हर स्तर पर सुधार की मांग करता है। पुलिस को अपनी जांच में तेजी लानी होगी अभियोजन को तर्कसंगत होना होगा और अदालतों को त्वरित निर्णय लेने होंगे सिर्फ कानून बनाने से नहीं, उसे सही समय पर और सही ढंग से लागू करने से ही न्याय प्राप्त होगा। न्याय के लिए सभी संबंधित पक्ष अपने कर्तव्यों को गंभीरता से निभाएं, तो त्वरित न्याय असंभव नहीं है। एक घटना सिर्फ एक प्रेरणा हो सकती है. समाधान नहीं। समाधान तब होगा जब यह प्रक्रिया पूरे देश की न्यायिक व्यवस्था में स्वाभाविक हो जाएगी, और तभी हम उम्मीद कर सकते हैं कि पीड़ितों को जल्द से जल्द और वास्तविक न्याय मिल सकेगा।

Live हिन्दुस्तान.com

Date: 28-11-24

बाल विवाह मुक्ति

संपादकीय

बाल विवाह मुक्त भारत अभियान की शुरुआत बहुत सुखद और स्वागतयोग्य है। बाल विवाह रोकने के तमाम कार्यों, योजनाओं और कानूनों के बावजूद अगर कामयाबी नहीं मिल पा रही है, तो जाहिर है, एक विशेष अभियान छेड़कर केंद्र सरकार ने सराहनीय कदम उठाया है। इसमें कोई शक नहीं कि 'बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ' का नारा और इसके लिए किए गए प्रयास बहुत हद तक सफल रहे हैं, पर यह बड़े अफसोस की बात है कि आज भी देश में हर पांच में से एक लड़की की शादी 18 साल से कम उम्र में हो जाती है। किसी शहर में अगर एक विवाह सत्र में 1,000 शादियां होती हैं, तो उनमें से 200 शादियों में दुल्हन की उम्र शादी लायक वैध नहीं होती। बाल विवाह की यह बड़ी संख्या है, जिसकी चिंता करके केंद्र सरकार ने जरूरी सामाजिक सुधार की दिशा में एक कदम बढ़ाया है। महिला एवं बाल विकास मंत्री अन्नपूर्णा देवी ने बुधवार को यह भी बताया कि पिछले एक साल में लगभग दो लाख बाल विवाह रोके गए हैं। मतलब, सामाजिक संस्थाएं और पुलिस काम तो कर रही है, पर मंजिल अभी दूर है।

यह सुखद बात है कि बाल विवाह मुक्त भारत बनाने के लिए उन्होंने सभी राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों से 2029 तक बाल विवाह की दर को पांच प्रतिशत से नीचे लाने के मकसद से विशेष कार्य योजना बनाने का आग्रह किया है। सनद रहे, बाल विवाह की सर्वाधिक संख्या पश्चिम बंगाल, बिहार, झारखंड, राजस्थान, त्रिपुरा, असम और आंध्र प्रदेश में है। देश में 300 ऐसे जिले जहां बाल विवाह की दर राष्ट्रीय औसत से ज्यादा है। ऐसा लग रहा है, लोग बेटियों का जीवन तो बचा रहे हैं, प्राथमिक शिक्षा भी देने लगे हैं, पर उन्हें अधिक पढ़ाने और आगे बढ़ाने पर उनका ध्यान नहीं है। बेटियों की जब कम उम्र में शादी होती है, तो श्रम बल के रूप में न केवल उनकी उत्पादकता, बल्कि देश की क्षमता पर भी असर पड़ता है। पढ़ी-लिखी लड़की अगर समय से ब्याही जाए, तो वह परिवार और समाज के लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है। कम उम्र में विवाह से न केवल संतानों की गुणवत्ता, बल्कि परिवार की आर्थिक-सामाजिक और मनोवैज्ञानिक क्षमता पर भी असर पड़ता है। केंद्रीय मंत्री ने उचित ही कहा है कि बाल विवाह मानवाधिकारों का उल्लंघन और कानून के तहत अपराध है। अच्छी बात है, सरकार ने अब एक तरह से मान लिया है कि कानून को जितना काम करना था, उसने किया, इसके आगे अब विशेष अभियान की जरूरत है। बाल विवाह रोकने के लिए अकेले कानून के भरोसे न बैठते हुए ठोस प्रबंध करने पड़ेंगे।

संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट में यह कहा गया है कि बाल विवाह दर में सबसे महत्वपूर्ण वैश्विक गिरावट दक्षिण एशियाई देशों में देखी गई है, जिसमें भारत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नए अभियान के तहत बाल विवाह रोकने के लिए बाल विवाह मुक्त भारत पोर्टल का भी शुभारंभ किया गया है। इस पोर्टल के जरिये बाल विवाह के विरोध में जागरूकता बढ़ाई जाएगी। बाल विवाह की स्थिति में यहां शिकायत भी दर्ज कराई जा सकती है। इससे कार्य प्रगति की निगरानी भी की जाएगी। बेशक, अगर इस पोर्टल को सही ढंग से चलाया गया, गांवों और पंचायतों से जोड़ लिया गया, तो यह बाल विवाह के खिलाफ कारगर साबित हो सकता है। यह निर्विवाद है कि देश को विकसित बनाने के लिए महिलाओं की पूरी शक्ति का उपयोग जरूरी है और महिला शक्ति बढ़ाने के लिए बाल विवाह को रोकना ही होगा।

Date: 28-11-24

पश्चिम एशिया में हो टिकाऊ समझौता

अश्विनी महापात्र, (प्रोफेसर, जेएनयू)

इजरायल और लेबनानी उग्रवादी गुट हिजबुल्लाह के बीच बीते करीब 14 महीने से जारी संघर्ष को रोकने पर बनी सहमति का सभी देश भले स्वागत कर रहे हैं, लेकिन यह बहुत उम्मीद नहीं जगाती । अमेरिकी राष्ट्रपति जो बाइडन तो इस समझौते को 'तनाव का स्थायी अंत' बता रहे हैं, लेकिन हिजबुल्लाह का इतिहास यदि खंगाले, तो यही जान पड़ता है कि वह कूटनीतिक तौर पर कुछ कदम पीछे जरूर हट रहा है, लेकिन अपनी ताकत जुटाकर वह फिर से इजरायल पर हमला बोल सकता है।

वास्तव में, हिजबुल्लाह का अस्तित्व ही इजरायल पहमले से जुड़ा हुआ है। 1980 के दशक में लेबनान के गृह युद्ध के दौरान इस गुट का जन्म हुआ है और इसने वहां आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से हाशिये पर पड़ी शिया आबादी को संगठित करने का काम किया। इसकी मांग शिया समुदाय की राजनीति में समान भागीदारी तो रही ही, साथ ही वह इजरायल पर 1985 तक लगातार हमला करता रहा, जब तक कि इजरायल ने अपनी फौज वापस नहीं बुला ली। इस संगठन को ईरान का साथ हासिल है। दक्षिण लेबनान हिजबुल्लाह का गढ़ रहा है, जहां से उत्तरी इजरायल काफी नजदीक है और बसावट भी वहां काफी ज्यादा है।

साल 1992 में गृह युद्ध की समाप्ति के बाद हिजबुल्लाह ने संसदीय राजनीति में प्रवेश किया और 128 सीटों वाली असेंबली में इसने आठ सीटें जीतीं । इस तरह एक उग्रवादी समूह ने राजनीतिक चोला पहन लिया। इजरायल ने हिजबुल्लाह को लिटानी नदी के पीछे धकेलने के लिए 1992 और 1996 में हमले किए, मगर नतीजा सिफर रहा। हालांकि, जुलाई 2006 में तीन इजरायली सैनिकों की हत्या के बाद इसने हिजबुल्लाह के खिलाफ सख्त जवाबी कार्रवाई शुरू की, जो 34 दिनों तक चली। इस संघर्ष में इजरायल ने 258 लड़ाकों के मारे जाने की सूचना दी थी। इसी के बाद संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में प्रस्ताव पारित कर यह तय किया गया कि लिटानी के दक्षिणी हिस्से में 'नॉन स्टेट एक्टर्स' को जगह नहीं मिलेगी। नतीजतन, हिजबुल्लाह पीछे तो हट गया, लेकिन ईरान की सहायता से उसने सुरंगों का निर्माण जारी रखा और ढेर सारे हथियार व मिसाइलें जुटा लीं। माना जाता है कि इसके पास करीब 50 हज़ार लड़ाकों की फौज है, जिनमें से 20 हजार सक्रिय हैं और 30 हजार रिजर्व । चूंकि बाद के वर्षों में लेबनान के अंदर सुन्नी जैसे अन्य तमाम गुट कमजोर पड़ते गए, इसलिए हिजबुल्लाह को अपनी ताकत बढ़ाने का मौका मिला और वह यहां का एक प्रभावशाली खिलाड़ी बन गया। उसे एहसास है कि जब तक वह इजरायल पर हमले करता रहेगा, उसकी अहमियत बनी रहेगी, इसलिए वह वक्त-वक्त पर अपनी मंशा जाहिर करता रहा है।

इसके जवाब में इजरायल भी अपनी कमर कसता रहा है। सन् 2006 की जंग में तो उसने इसे काफी नुकसान पहुंचाया था। फिर भी, वह इसे हल्के में नहीं लेना चाहता। पिछले दिनों जिस तरह से उसने रणनीतिक तौर पर पेजर विस्फोटों या लक्षित हत्याओं के जरिये हिजबुल्लाह के कमांडरों एवं लड़ाकों को निशाने पर लिया, वह संकेत था कि उसने इसके खिलाफ मोर्चाबंदी कड़ी कर दी है। हिजबुल्लाह फिलहाल इसी मोर्चेबंदी से घबराकर संघर्ष विराम कर रहा है। यह उसके लिए मजबूरी में उठाया गया कदम हो सकता है। वास्तव में, वह पहली बार इतना कमजोर दिख भी रहा है। राजनीति में

उसकी भागीदारी सिमट गई है, उसकी सैन्य ताकत कमजोर हो गई है, पिछले दिनों ईरान पर हुए हमले के बाद तेहरान ने भी इस पर दबाव बढ़ा दिया है, नतीजतन यह धारणा बनने लगी है कि हिजबुल्लाह अब इजरायल को नहीं 'संभाल सकता। इसलिए हिजबुल्लाह इस धारणा को तोड़ने की कोशिशें कर सकता है, जिसकी कुछ वजहें भी हैं।

पहली, इजरायल के साथ उसका लड़ना जरूरी है, क्योंकि इसी से उसका अस्तित्व बचा रह सकता है। दूसरी उसे इसलिए भी लड़ना होगा, क्योंकि उसकी फौज कमजोर हो गई है और 50 हजार लड़ाकों के अपने सैन्य ढांचे को कायम रखने के लिए उसे पैसे चाहिए, जो जंग के बदले ही उसे मिल सकते हैं। तीसरी, ईरान भी फिलहाल ठहराव की मुद्रा में है, पर वह इसकी ताकत बचाकर रखने का इच्छुक है। चौथी, हिजबुल्लाह की राजनीतिक ताकत इजरायल के साथ जंग पर ही टिकी हुई है और पांचवीं, जो सबसे अहम भी है कि इस संघर्ष विराम समझौते में हमास की कोई चर्चा नहीं की गई है। समझौते में फलस्तीन का जिक्र न होना हिजबुल्लाह को उत्तेजित कर सकता है। ऐसा इसलिए, क्योंकि पश्चिम एशिया एक ऐसा क्षेत्र है, जहां हरेक मुद्दे एक-दूसरे से बुरी तरह नत्थी हैं और सबके मूल में फलस्तीन है। लिहाजा, जब तक इजरायल-हमास के बीच कोई स्थायी समझौता नहीं हो जाता, हिजबुल्ला की सक्रियता थम सकती है, पर खत्म नहीं हो सकती और इसलिए पश्चिम एशिया में स्थायी शांति भी नहीं आ सकती।

रही बात भारत की, तो इस पूरे मसले में नई दिल्ली की भूमिका बेहद सीमित है। इस संघर्ष विराम समझौते को अंजाम देने में अमेरिका और फ्रांस पूरी शिद्दत से लगे हुए थे। लिहाजा, भारत ज्यादा से ज्यादा इसमें बतौर शांति सैनिक अपनी भूमिका निभा सकता है। हालांकि, सच यह भी है कि दोनों पक्ष भले ही हम पर विश्वास करते हों, लेकिन संयुक्त राष्ट्र शांति अभियानों की भूमिका बहुत सीमित होती है। फिर, लेबनान एक ऐसा देश है, जहां राजनीतिक अस्थिरता काफी अरसे से है। वहां बीते कई वर्षों से कोई राष्ट्रपति तक नहीं है। उसकी अर्थव्यवस्था खस्ता हाल में है। देखा जाए, तो यह देश वास्तव में कई तरह की परेशानियों से जूझ रहा है। साल 2012-13 में जब मैं बेरूत गया था, तब वहां की दीवारों पर 'हू इज लेबनीज' यानी 'कौन हैं लेबनानी' जैसे नारे मुझे पढ़ने को मिले थे। इसका सीधा मतलब है कि इस देश और यहां के लोग अब तक अपनी पहचान के लिए भी जूझ रहे हैं।

हालांकि, इस संघर्ष विराम को बनाए रखने का दबाव भी लेबनान पर खूब होगा, क्योंकि राजनीतिक अस्थिरता से जूझ रहे इस देश को तभी विश्व बिरादरी की तरफ से आर्थिक मदद मिल सकती है, जब यहां कोई स्थिर सरकार बने। इसका अर्थ है कि हिजबुल्लाह जैसे 'नॉन स्टेट एक्टर्स' को किनारे करना ही होगा। मगर सवाल यही है कि क्या ये 'नॉन स्टेट एक्टर्स' शांत हो सकते हैं? फिलहाल तो ऐसा नहीं लगता।